भारतीय संस्कृति : पुरुषार्थों की प्रासंगिकता

डॉ. नीरज कुमार द्विवेदी*

मानव सभ्यता की अमूल्य और शाश्वत निधि के रूप में केवल संस्कृति को ही माना जा सकता है। किसी देश और समाज की संस्कृति को आधार बनाकर ही उस देश की सभ्यता एवं संस्कारों को समझा जा सकता है। संस्कृति ही समाज के व्यक्तियों की उच्चता का मूल है। मानव जीवन की अमूल्य निधि उसकी संस्कृति होती है। संस्कृति के आवरण में रहकर ही व्यक्ति मानवमात्र से सामाजिक प्राणी बनता है। सामान्य अर्थ में संस्कृति समाज से सीखे हुए व्यवहारों की सम्पूर्णता है। वास्तव में व्यक्तियों द्वारा हमारे चारों ओर जो वातावरण निर्मित होता है, जिस परिवेश में हम पलते–बड़े होते हैं, जीवन जीने की कला को सीखते है, वह वातावरण ही हमारा सांस्कृतिक पर्यावरण है, जिसमें हम आबद्ध रहते है। सर्वप्रथम 'वायुपुराण' में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष विषयक मानवीय घटनाओं को संस्कृति के अंतर्गत समाहित किया गया। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मानव जीवन के प्रतिदिन के आचार–विचार जीवन शैली तथा कार्य व्यवहार ही संस्कृति कहलाती है। मानव जीवन के कलात्मक, दार्शनिक, धार्मिक, नीतिगत कार्यकलापों, परम्परागत प्रथाओं, खानपान संस्कार के समन्वय को संस्कृति कहते हैं। व्यक्ति संस्कृति के ढाँचे में ढलकर ही आगे बढ़ता है। किसी विद्वान ने सत्य कहा है कि "मनुष्य के पास से उसकी संस्कृति को छीन लीजिए जो कुछ शेष रहेगा वह निश्चय ही मानव नहीं अपितु एक प्रकार का बन्दर होगा।"[1]

भारतीय संस्कृति का अतीत अत्यन्त उज्ज्वल था। हमारा कर्तव्य है कि हम भविष्य को भूत से भी अधिक गौरवपूर्ण बनाने का प्रयास करें। सभ्यता और संस्कृति का शब्दार्थ है–उत्तम या सुधरी हुई स्थिति। मनुष्य स्वभावतः प्रगतिशील प्राणी है। वह अपनी बुद्धि के प्रयोग से अपने चारों ओर की प्रकृति परिस्थिति को निरन्तर सुधारता रहता है। यह क्रम समय के साथ निरंतर चलता जाता है। वैश्विक

---

* असि. प्रोफेसर, हिन्दी, दयानन्द वैदिक कॉलेज, उरई

ऐतिहासिक परिदृश्य में हमारी सभ्यता–संस्कृति प्राचीनतम है। हमारी संस्कृति में आध्यात्मिकता, धर्म की श्रेष्ठता, दार्शनिकता में विभिन्नता में एकता, विश्वबन्धुत्व की भावना, समन्वयता, गतिशीलता आदि विशेषताएं दर्शित होती हैं। इसके साथ–साथ हमारे देश में विभिन्नताओं के होते हुए भी सामाजिक एकता, धार्मिक एकता, राजनैतिक एकता, सांस्कृतिक एकता देखने को मिलती है। सम्भवतः इन्हीं बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए आचार्य नरेन्द्रदेव ने कहा है कि "किसी देश की संस्कृति में वे सभी तत्व मौजूद होते है जिनसे हम नवयुग और नवमानव का निर्माण कर सकते है। हमारी संस्कृति का सबसे बड़ा तत्व विभिन्न जीवन प्रणालियों में एकता और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय स्थापित करना है। विशाल भारतीय संस्कृति के अंतर्गत अनेक छोटी–छोटी संस्कृतियाँ है किन्तु उनमें एकता है। इसी प्रकार धर्म के भी अनेक स्वरूप है–सनातन, आर्य, जैन और बौद्ध। इसमें उपासना का भेद है, उत्सव, पर्व और साधना का भेद है किन्तु इस भेद के होते हुए भी कुछ मुख्य बातों में अदभुत एकातानता और समरसता विद्यमान है।"[2]

हिन्दू शास्त्रकारों ने मनुष्य तथा समाज की उन्नति के निमित्त जिन आदर्शों का विधान प्रस्तुत किया उन्हें पुरुषार्थ की संज्ञा दी गई है। भारतीय संस्कृति में चार पुरुषार्थों की व्यवस्था की है। वे चार पुरुषार्थ हैं–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। चारों पुरुषार्थों में धर्म सबसे महत्वपूर्ण है, इसलिए उसे सर्वप्रथम रखा गया है। अब प्रश्न उठता है कि धर्म किसे कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर तरह–तरह से दिया गया। एक वाक्य में उनका सार यह है कि इहलोक व परलोक के अनुकूल आचरण करना ही धर्म है। प्राचीन शास्त्रों में धर्म की विषद् व्याख्या मिलती है। महाभारत में कहा गया है कि धर्म सभी प्राणियों की रक्षा करता है। सभी को सुरक्षित रखता है। यह सृष्टि का अस्तित्व बनाये रखता है तथा धर्म की व्यवस्था सभी प्राणियों के कल्याण के लिए की गयी है जिससे सभी प्राणियों का हित होता है वही धर्म है।[3]

डॉ. राधाकृष्णन ने धर्म के उद्‌देश्य पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि धर्म का उद्‌देश्य हमारे विविध प्रकार के उद्‌देश्यों, हितों और इच्छाओं में सामंजस्य का संचार करना है। अतएवं उचित कर्तव्यों को

ही डॉ. राधाकृष्णन ने धर्म की संज्ञा दी है।[4] अतः धर्म समस्त नैतिक क्रियाओं की विधि अथवा दर्पण है जिसमें भारतीय संस्कृति की पूर्ण छवि दिखाई देती है।

द्वितीय पुरुषार्थ के रुप में अर्थ को माना गया है। सामान्य प्रयोग में अर्थ शब्द का संकुचित रूप ग्रहण किया जाता है। इसे धन अथवा संपत्ति के अर्थ में माना जाता है। परंतु वास्तव में यह एक व्यापक शब्द है। भारतीय संस्कृति के अनुसार अर्थ हमारे जीवनयापन की मूलभूत आवश्यकताओं को परिपूर्ण करने का एक माध्यम है, जिसके सहारे हम भौतिक सुखों, ऐश्वर्य, धन, शक्ति आदि को अर्जित कर सकते हैं। अर्थ के अभाव में जीवनयापन असंभव है। वृहस्पति ने अर्थ को जगत का मूल आधार बताया है (धनं मूलं जगत्)। अर्थशास्त्र में इसे प्रधान तत्व के रुप में निरुपित किया गया है। नीतिशतक में कहा गया है कि जिसके पास धन है वही कुलीन है, पंडित है, वेदों का ज्ञाता है, गुणवान है, वक्ता है तथा दर्शनीय है। सभी गुण धन में ही होते हैं–

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स पण्डितः स श्रुतवान्गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति।।

किंतु अर्थ की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी शास्त्रों ने उसे धर्म के अधीन बताया है तथा धर्म आधारित अर्थ के अर्जन पर बल दिया है। मनुस्मृति में स्पष्ट कहा गया कि धर्मविरुद्ध अर्थ किसी काम का नहीं है, उसका त्याग करना चाहिए। मनुष्य को धर्म अनुकूलित अर्थ से अर्जित सभी सुखों का उपभोग करना चाहिए।[5] भारतीय जीवन दर्शन में अर्थ वहीं तक अभीष्ट है जहां तक वह धर्म संगत हो। वर्तमान युग को अर्थप्रधान युग के रुप में मान्यता है। समय की मांग भी अर्थआधारित है। ऐसे समय में अर्थार्जन के साधनों और उसके प्रयोगों के प्रति हमें सतत् रुप से सजग रहना जरुरी है। दुरूपयोग सरल और सहज है परन्तु सदुपयोग विवेक की मांग करता है।

तृतीय पुरुषार्थ के रुप में काम को स्वीकार किया गया है। अर्थ की तरह ही काम शब्द का भी प्रयोग अर्थसंकोच के साथ किया जाता है। संक्षिप्त अर्थ में काम का शाब्दिक अर्थ इंद्रिय सुख अथवा वासना से है। किंतु जब हम इसे व्यापक अर्थ में देखते हैं तो पाते हैं कि काम मनुष्य की सहज इच्छाओं एवं प्रवृत्तियों को पूर्ण करने का साधन

है। महाभारत के अनुसार काम, मन तथा हृदय का वह सुख है जो इंद्रियों के विषयों से संयुक्त होकर निःसृत होता है–

इन्द्रियाणां च पंचानाम् मनसो हृदयस्य च।
विषये वर्तमानानां या प्रीतिरूप जायते।
स काम इति मे बुद्धि कर्मणां फलमुक्तमम्।।[6]

यह मानव मन की प्रथम एवं प्रमुख प्रवृत्ति है। इसी के वशीभूत होकर मनुष्य संतानोत्पत्ति करता है। गृहस्थ जीवन के विविध रुपों का आनन्द उठाता है तथा विपरीत लिंगी के प्रति आकर्षण अनुभव करता है। आकर्षण को संयमित और नियंत्रित करने के लिए इसे धर्म के साथ जोड़ा गया है ताकि यह धर्मसंगत आचरण के रूप में व्यक्ति और समाज की उन्नति का साधन बने। आचरण विपरीत दिशा में होने पर यह नैतिकपतन की ओर जाता है। काम के निरंकुश आचरण से व्यक्ति का विकास अवरुद्ध हो जाता है। काम से संतुष्ट न होने पर मानव मन क्रोधित होता है। क्रोध से मन अशांत, बुद्धि का नाश और मनुष्य का संपूर्ण विनाश हो जाता है। मत्स्य पुराण में कहा गया है कि 'धर्मरहित काम बंध्या पुत्र के समान है (धर्महीनस्य कामार्थो बन्ध्यासुत समौ ध्रुवम्)।

काम और अर्थ मानव को विशेष प्रिय होता है। इससे प्राप्त सुखों को सामान्य रूप में भौतिक सुख कहा जाता है। इसका आकर्षण इतना जबरदस्त होता है कि इसके लिए आम मनुष्य कुछ भी करने के लिए तत्पर रहता है। फलस्वरूप अक्सर वह गलत राह का चयन करता है। काम और अर्थ का विचार मनुष्य के जीवन में अहम् स्थान रखता है। इसलिए मनुष्य काम और अर्थ का सेवन करता हुआ जीवन यात्रा पूरी करना चाहता है। लेकिन वही काम और अर्थ का अनुचित सेवन उसे पथभ्रष्ट न कर दे इसलिए पुरुषार्थों में धर्म का विधान किया गया और धर्मानुकूल काम तुष्टि और अर्थ प्राप्ति के लिए उसे शास्त्रों में उचित निर्देश दिए गए हैं। पुरुषार्थ के रूप में धर्म नैतिक नियमों की व्यवस्था है। नैतिक नियम सदाचार पर बल देते हैं। ये नैतिक नियम व्यक्ति को नियंत्रित करते है और सामाजिक संतुलन बनाये रखने में सहयोग प्रदान करते हैं। अर्थ और काम सेवन के क्षेत्र में व्यक्ति को धर्म नियंत्रित करता है। अतः धर्म अनीति से बचने की शक्ति है। मनुष्य को आकर्षित करने वाले सुरा, संगीत, सुन्दरी, विषय

भोग और नाना प्रकार के आर्थिक और राजनैतिक लोभ आदि अनेक सांसारिक आकर्षण हैं। मनुष्य इन भौतिक आकर्षणों में फंसकर कहीं अपना मार्ग ही न भूल जाए और उसकी महायात्रा अधूरी न रह जाए, इसलिए धर्म रूपी दण्ड का विधान है जो मनुष्य को विषय–भोग में नहीं फंसने देता है।

चार्वाक को छोड़ समस्त भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं में मोक्ष को जीवन का परम लक्ष्य स्वीकार किया गया है। मोक्ष का अर्थ पुनर्जन्म अथवा आवागमन चक्र से मुक्ति प्राप्त कर आत्मा का परमात्मा में विलीन हो जाना है। आत्मा, अजर–अमर एवं परमात्मा का अंश है। शरीर बंधन का कारण है, संसार मायाजाल है, मनुष्य जब इस तथ्य को जान लेता है तो सांसारिक विषयों से अपना ध्यान हटाकर परमात्मा की ओर लगाता है। ज्ञान, भक्ति एवं कर्म मोक्ष प्राप्ति के साधन है। प्रायः सभी भारतीय दर्शन अविद्या तथा अज्ञान को ही बन्धन का कारण मानते हैं। अतः मोक्ष तभी संभव है जब व्यक्ति विद्या ग्रहण कर अज्ञान के बंधन से मुक्त हो जाय। इस प्रकार मोक्ष हिंदू जीवन दर्शन का परम लक्ष्य है। ब्रह्मचर्य आश्रम में ही विद्यार्थी को जीवन के परम लक्ष्य का बोध करा दिया जाता था जिससे जीवनपर्यन्त वह अपने समस्त क्रियाकलापों को इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर संचालित करता था। जीवन के अंतिम समय सन्यास आश्रम में इस लक्ष्य की पूर्ण प्राप्ति होती थी।

पुरुषार्थ हिन्दू विचारधारा की अपनी व्यवस्था है जो विश्व की अन्य संस्कृतियों में सर्वथा अप्राप्य है। पाश्चात्य संस्कृति में जहां भौतिकता को सर्वोच्च प्राथमिकता प्राप्त है वहीं भारतीय संस्कृति में भौतिकता को महत्वपूर्ण मानते हुए भी आध्यात्मिकता पर जोर दिया गया है। पुरुषार्थों के माध्यम से एक संयमित और संतुलित जगत की परिकल्पना की गई है। इस जगत में काम और अर्थ साधन है और धर्म एवं मोक्ष साध्य हैं। अर्थ और काम का उचित उपभोग धर्म के माध्यम से ही सम्भव है–

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थो धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयस् त्रिवर्ग इति तु स्थिति।।

पुरुषार्थ का सम्बन्ध मनुष्य और समाज दोनों से है। वस्तुतः पुरुषार्थ मनुष्य और समाज के अंतरसम्बन्धों का आधारभूत तत्व है।

आश्रमों के द्वारा जीवनयापन करता हुआ व्यक्ति पुरुषार्थों के माध्यम से समाज एवं परिवार के प्रति अपने उत्तरदायित्व का पूर्ण निर्वहन करता है।

आज के समय में एक विचारणीय पहलू यह है कि ऐसे गौरवशाली अतीत और विश्व की प्राचीनतम संस्कृति के वाहक होते हुये भी क्या वर्तमान समय में युवा पीढ़ी का सर्वांगीण संस्कारित विकास हो रहा है? उत्तर है नहीं। आज अच्छे प्रोफेशनल कोर्सेज और शैक्षिक संस्थानों की बाढ़ सी आती जा रही है। जीवन में भौतिक संसाधनों का स्तर भी बढ़ता जा रहा है फिर क्यों हमें शारीरिक, आर्थिक व मानसिक कष्टों का सामना करना पड़ रहा है? शिक्षा मनुष्य का सम्यक् विकास करती है। व्यक्ति को परिपक्व बनाती है। परन्तु आज शिक्षा के नित नये आयाम गढ़ने के उपरान्त भी हमारे जीवन में अपरिपक्वता है, अपूर्णता है, असंतुष्टि है। पूर्णता, परिपक्वता और संतुष्टि प्राप्ति के लिये आवश्यकता है नैतिक मूल्यों के अपनी जड़ों से जुड़े रहने की। पेड़ तभी तक हरा–भरा रहता है जब तक उसकी जड़ें मजबूत हों और हमारी जड़े हमारी अद्वितीय संस्कृति में निहित है। हम अपने भौतिक स्वार्थो और पाश्चात्यीकरण से प्रभावित होकर अपनी ही संस्कृति का प्रतिरोध कर रहे हैं। अपनी ही जड़ों को खोदते जा रहे हैं। जिसके कारण जीवन में अस्थिरता और असंतुष्टि का भाव बढ़ रहा है।

नीति शास्त्र की उक्ति है–"ज्ञानेन हीनः पशुभिः समानाः।" अर्थात् ज्ञान से हीन मनुष्य पशु के समान है। ऋषियों की दृष्टि में 'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात् विद्या वही है जो हमें अज्ञान के बंधन से मुक्त कर दे। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में 'आध्यात्म विद्यानाम' कहकर इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है। शिक्षा की अहम् भूमिका यह भी है कि वह अपनी संस्कृति, धर्म तथा इतिहास को अक्षुण्य बनाये रखे, जिससे कि राष्ट्र का गौरवशाली अतीत भावी पीढ़ी के समक्ष द्योतित हो सके और युवा पीढ़ी अपने अतीत से कटकर न रह जाये।

वर्तमान समय में शिक्षक को चाहिये कि सामाजिक परिवर्तन को देखते हुये शैक्षिक गुणवत्ता को बनाये रखने के लिये केवल अक्षर एवं पुस्तक ज्ञान को माध्यम न बनाए। शिक्षित को केवल भौतिक उत्पादन–वितरण का साधन न बनाया जाये अपितु पुरूषार्थों के सहारे

नैतिक मूल्यों से अनुप्राणित कर आत्मसंयम, इन्द्रियनिग्रह, प्रलोभनोपेक्षा तथा नैतिक मूल्यों को केन्द्र बनाकर भारतीय समाज, अन्तर्राष्ट्रीय जगत की सुख–शान्ति और समृद्धि को माध्यम तथा साधन बनाया जाये। ऐसी शिक्षा निश्चित ही कामधेनु बनकर सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाली और सुख समृद्धि तथा शान्ति का संचार करने वाली होगी।

सन्दर्भ सूची

1. मिश्रा, डॉ. डी.सी., भारत का सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ सं. 89.
2. देव, आचार्य नरेन्द्र, साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति, पृष्ठ सं. 139.
3. श्रीवास्तव, के. सी., प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, पृष्ठ सं. 155.
4. राधाकृष्णन, सर्वपल्ली, दि हिन्दू व्यू आव् लाईफ, पृष्ठ सं. 56.
5. मनुस्मृति 8 / 304.
6. महाभारत, वनपर्व 37–38.

————————